E-ISSN: 2706-8927
P-ISSN: 2706-8919
www.allstudyjournal.com
IJAAS 2021; 3(1): 291-293
Received: 19-11-2020
Accepted: 21-12-2020

सरोज कुमार
शोधार्थी (राजनीति विज्ञान विभाग)
ल0 ना0 मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
सरोज कुमार
शोधार्थी (राजनीति विज्ञान विभाग)
ल0 ना0 मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा, बिहार, भारत

लोकतांत्रिक अभ्यास एवं भारत में सामाजिक असमानताः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सरोज कुमार

सारांश
यह पत्र समकालीन भारत में लोकतांत्रिक प्रथा की भूमिका की जांच करता है, जो प्रति लोकतांत्रिक संस्थाओं के साथ प्राथमिक चिंता से परे है। लोकतांत्रिक अभ्यास की नींव को सुविधा, भागीदारी और इक्विटी (शक्ति का उचित वितरण) के रूप में पहचाना जाता है। भारतीय लोकतंत्र की उपलब्धियों और सीमाओं का आकलन इस प्रकाश में किया जाता है, जिसमें लोकतांत्रिक प्रथा पर सामाजिक असमानता के प्रतिकूल प्रभावों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि जहां लोकतंत्र की गुणवत्ता में अक्सर सामाजिक असमानता और अपर्याप्त राजनीतिक भागीदारी से समझौता किया जाता है, वहीं लोकतांत्रिक प्रथा खुद इन कमजोरियों को खत्म करने का एक शक्तिशाली उपकरण है।

कुटशब्दः भारतीय लोकतंत्र; सामाजिक असमानता; विकेन्द्रीकरण; मानवाधिकार; भागीदारी

प्रस्तावना
भारतीय लोकतंत्र की पिछली उपलब्धियों और भविष्य की संभावनाओं का आकलन करने में, लोकतांत्रिक आदर्शों, लोकतांत्रिक संस्थानों और लोकतांत्रिक व्यवहार के बीच अंतर करना उपयोगी है। लोकतांत्रिक आदर्श "लोगों की सरकार, लोगों द्वारा और लोगों के लिए" के व्यापक विचार के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें राजनीतिक विशेषताएं शामिल हैं जिन्हें लोकतांत्रिक सामाजिक जीवन के उद्देश्य के संदर्भ में आंतरिक रूप से महत्वपूर्ण माना जा सकता है, जैसे कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अपने जीवन को संचालित करने वाले कारकों पर निर्णय लेने में लोगों की भागीदारी, नेताओं की सार्वजनिक जवाबदेही और एक समान वितरण। लोकतांत्रिक संस्थाएं इन मूल उद्देश्यों से परे जाती हैं, और संवैधानिक अधिकारों, प्रभावी अदालतों, उत्तरदायी चुनावी प्रणालियों, कामकाजी संसदों और विधानसभाओं, खुले और मुक्त मीडिया, और स्थानीय शासन के भागीदारी संस्थानों के रूप में इस तरह के संस्थाओं को शामिल करती हैं। जबकि लोकतांत्रिक संस्थान लोकतांत्रिक आदर्शों को प्राप्त करने के अवसर प्रदान करते हैं, इन अवसरों को कैसे महसूस किया जाता है यह लोकतांत्रिक व्यवहार का विषय है। उत्तरार्द्ध राजनीतिक भागीदारी की सीमा, जनता की जागरूकता, विपक्ष की दृढ़ता, राजनीतिक दलों की प्रकृति और लोकप्रिय संगठनों और सत्ता के वितरण के विभिन्न निर्धारकों पर निर्भर करता है। लोकतांत्रिक संस्थाएं और लोकतांत्रिक प्रथा दोनों पूर्ण अर्थों में लोकतंत्र को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण हैं, लेकिन पूर्व की उपस्थिति उत्तरार्द्ध की गारंटी नहीं देती है।[1]

लोकतांत्रिक संस्थानों के संदर्भ में, भारत ने यथोचित प्रदर्शन किया है, और यह अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से प्रभावशाली लग सकता है, कई देशों की विफलता को देखते हुए भी एक लोकतांत्रिक संस्थागत संरचना के सबसे प्राथमिक घटक सुरक्षित हैं। पहले भारत में लोकतांत्रिक संस्थाएं – अक्सर इतिहास में वापस खींचती हैं। 1947 में स्वतंत्रता के तुरंत बाद संवैधानिक ढांचे के भीतर निर्णायक रूप से समेकित किया गया था। अक्सर यह भूल जाता है कि भारतीय संविधान उन दिनों में कितना कट्टरपंथी था, खासकर लोकतंत्र की सीमित पहुंच के प्रकाश में। ऐसा नहीं है कि अधिकांश अन्य विकासशील देश उस समय भी उपनिवेशवाद और सत्तावाद के शिकार थे। यहां तक कि आर्थिक रूप से उन्नत देशों में अभी भी कई मामलों में भारतीय संविधान द्वारा गारंटीकृत राजनीतिक स्वतंत्रता का अभाव है। 1947 में, जब भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की, तब भी महिलाएं कई "विकसित" देशों (बेल्जियम, कनाडा, स्विट्जरलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका, और अन्य लोगों के बीच) में सार्वभौमिक और समान मतदान के अधिकार से वंचित थीं। स्विट्जरलैंड में, महिलाएं चौबीस साल की थीं, वोट देने के अधिकार से वंचित थीं। संयुक्त राज्य में, अफ्रीकी अमेरिकियों को भी समान रूप से मतदान के अधिकार (पंजीकरण और वोट देने के अवसर के व्यवस्थित इनकार के माध्यम से), और राज्य–प्रायोजित नस्लीय भेदभाव (जैसे, अंतरजातीय विवाह के निषेध के साथ–साथ सार्वजनिक स्थानों पर नस्लीय अलगाव से वंचित किया गया था) व्यापक था; मूल लोकतांत्रिक

स्वतंत्रता के इन दमनों को दूर करने के लिए, 1960 के दशक के अंत तक स्थायी नागरिक अधिकारों का आंदोलन हुआ। पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के अन्य देशों में, निर्वाचित संसदों ने अक्सर सुस्त राजशाही के साथ असहजता से एकसाथ बैठक किया और चर्च के अधिकारियों को लौकिक शक्तियां भी प्रदान कीं। ये "अनियमितताएं" (लोकतांत्रिक मानदंडों के संदर्भ में) भारत के विपरीत कई मामलों में आज भी जारी हैं, जहां संविधान ने सामंतवाद की सफाई की और आधुनिक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के लिए ठोस नींव रखी।

पिछली सामाजिक विषमताओं के स्थायी प्रभाव से निपटने के लिए सकारात्मक कार्रवाई के उद्देश्य से कानून को शामिल करने वाले पहले देशों में भारत भी शामिल था। अनुसूचित जातियों के लिए "आरक्षण" और अन्य प्राथमिकताएं (पूर्व में, "अछूत") और अनुसूचित जनजातियों ने सामाजिक इक्विटी के लिए कानूनी समर्थन के क्षितिज का विस्तार किया, भले ही हम इस शुरुआती प्रस्थान की सटीक उपलब्धियों और विफलताओं का न्याय करते हों। 1950 में भारतीय संविधान (जिसमें कई सकारात्मक प्रावधान थे) के बाद प्रभावी कार्रवाई संयुक्त राज्य अमेरिका में कई वर्षों तक गंभीर संभावना नहीं बनेगी।

असमानता और सशक्तिकरण

लोकतांत्रिक प्रथा की सीमा के विभिन्न कारणों के बीच अंतर करना उपयोगी है। लोकतांत्रिक संस्थाओं को देखते हुए, लोकतंत्र का अभ्यास कम से कम तीन अलग–अलग कारणों से सीमित हो सकता है। पहला, लोकतांत्रिक संस्थाएँ भ्रष्टाचार, भ्रष्टाचार या अक्षमता के कारण बदनाम हो सकती हैं। उदाहरणों में चुनावी धोखाधड़ी और मामला अधिभार के माध्यम से कानूनी प्रणाली का पक्षाघात शामिल है। दूसरा, संबंधित व्यक्तियों या समूहों की ओर से कार्यात्मक लोकतांत्रिक संस्थानों का अपर्याप्त उपयोग हो सकता है, अक्सर सीमित समझ या कौशल के कारण, और कभी–कभी प्रेरणा की कमी भी। कम चुनावी भागीदारी, और जटिल कानूनी कार्यवाही के सामने जनता की शक्तिहीनता, कई अन्य लोगों के बीच कुछ चित्रण हैं।[2]

लोकतांत्रिक प्रथा की विफलता के तीसरे कारण हैं– असामाजिक सामाजिक असमानताओं की पहुंच और शक्ति। लोकतांत्रिक प्रथाएं वास्तव में सामाजिक असमानताओं से पूरी तरह से कम हो सकती हैं, भले ही लोकतांत्रिक संस्थाएं सभी जगह हों। उदाहरण के लिए, भले ही चुनाव तकनीकी रूप से स्वतंत्र और निष्पक्ष हों, चुनाव प्रक्रिया में धन और प्रभाव की भूमिका से उनकी प्रभावी निष्पक्षता से समझौता किया जा सकता है। यह कानूनी प्रणाली पर भी लागू होता है, जो अक्सर विभिन्न वर्गों (यहां तक कि किसी भी भ्रष्टाचार की अनुपस्थिति में) के बीच निष्पक्ष से बहुत दूर है, अगर केवल इसलिए कि अमीर लोग बेहतर वकील का खर्च उठा सकते हैं।

कुछ अति–सरलीकरण के जोखिम में, लोकतांत्रिक अभ्यास की नींव, इस प्रकार, सुविधा (कार्यात्मक लोकतांत्रिक संस्थान), भागीदारी (इन संस्थानों के साथ सार्वजनिक सगाई की सूचना), और इक्विटी (शक्ति का उचित वितरण) के रूप में वर्णित की जा सकती है। इक्विटी की केंद्रीय प्रासंगिकता इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि सत्ता का उचित वितरण लोकतंत्र की बुनियादी दबम वास्तव में मौलिक आवश्यकता है। एक सरकार "लोगों द्वारा" अंततः सभी लोगों को एक सममित तरीके से शामिल करना चाहिए, और यह आवश्यक भी है कि सरकार "लोगों के लिए और लोगों के लिए" बन सके। यह निश्चित रूप से, "हाँ या नहीं" प्रकार का एक प्रश्न नहीं है। अधिकांश समाजों में, यह मामला है कि किसी व्यक्ति की चुनावी अधिकारों का उपयोग करने, कानूनी सुरक्षा प्राप्त करने, अपने आप को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने और सामान्य वर्ग में लोकतांत्रिक संस्थानों का लाभ उठाने की क्षमता वर्ग, शिक्षा, लिंग और संबंधित विशेषताओं के साथ भिन्न होती है। लोकतांत्रिक आदर्शों के लिए प्रयास करते हुए, इन सामाजिक असमानताओं से जुड़ी शक्ति के विषमताओं को कम करना दुनिया में हर संस्थागत लोकतांत्रिक देश में लोकतांत्रिक अभ्यास की केंद्रीय चुनौतियों में से एक है। यह चुनौती भारत में विशेष रूप से सटीक है, इसकी ऐतिहासिक आर्थिक और सामाजिक विषमताओं को देखते हुए।

विकेंद्रीकरण और स्थानीय लोकतंत्र

भारत में स्थानीय लोकतंत्र को बढ़ावा देने के लिए लोकतांत्रिक प्रथा और सामाजिक इक्विटी के बीच के अंतरसंबंधों का हालिया पहल पर मजबूत असर पड़ता है। ये पहल 73 वें और 74 वें संवैधानिक संशोधनों ("पंचायती राज" संशोधनों) के ढांचे में हुई है, जिसके लिए सभी राज्य सरकारों को स्थानीय प्रतिनिधि संस्थानों के पुनरोद्धार के लिए तैयार कुछ विधायी उपायों को पेश करने की आवश्यकता है। इन उपायों में नियमित अंतराल पर अनिवार्य चुनाव, महिलाओं और अनुसूचित जातियों या जनजातियों के सदस्यों के लिए ग्राम पंचायतों में सीटों का आरक्षण और स्थानीय अधिकारियों के लिए सरकारी जिम्मेदारियों का पर्याप्त विकास शामिल हैं। 1993 में प्रभावी हुए पंचायती राज संशोधनों ने देश के विभिन्न हिस्सों में न केवल राज्य सरकारों, बल्कि राजनीतिक दलों, गैर सरकारी संगठनों, जमीनी स्तर के संगठनों, महिलाओं के समूहों और अन्य समाजवादी संरचनाओं द्वारा कई दिलचस्प पहल की हैं। इन पहलों से जुड़े हालिया घटनाक्रम से बहुत कुछ सीखने को मिला है।[3]

स्थानीय स्तर पर अधिक से अधिक लोकतंत्र को प्राप्त करना भारत में लोकतंत्र के अभ्यास और गुणवत्ता को बदलने के व्यापक कार्य का एक महत्वपूर्ण घटक होना चाहिए। वास्तव में, स्थानीय लोकतंत्र बड़ी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भागीदारी के एक साधन का प्रतिनिधित्व करता है, जो अपेक्षाकृत वंचितों के लिए सुलभ है, और संभवतः लोकतांत्रिक भागीदारी के अन्य रूपों की ओर एक कदम–पत्थर हो सकता है। स्थानीय लोकतंत्र भी सार्वजनिक जवाबदेही के आधार के रूप में आवश्यक है, विशेष रूप से स्थानीय सार्वजनिक सेवाओं के प्रभावी और न्यायसंगत प्रबंधन की आवश्यकता के संदर्भ में। ये सेवाएं स्कूलों और स्वास्थ्य केंद्रों से उचित मूल्य की दुकानों और पीने के पानी की सुविधाओं के लिए वित जीवन की गुणवत्ता के लिए अक्सर महत्वपूर्ण होती हैं। उनका प्रभावी कामकाज, हालांकि, संबंधित अधिकारियों की लोकप्रिय मांगों की जवाबदेही पर काफी हद तक निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, यह देखना मुश्किल है कि ग्रामीण भारत में शिक्षक की अनुपस्थिति की समस्या का सामना कैसे किया जा सकता है, विशेष रूप से सामान्य और अभिभावक समूहों में ग्राम समुदायों की अनुमानित और सूचित एजेंसी को शामिल किए बिना। चूंकि चीजें खड़ी हैं, इसलिए स्थानीय समुदाय या भारत के बड़े हिस्सों में माता–पिता के लिए ग्राम शिक्षकों की किसी भी प्रकार की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं है, और यह कर्तव्य के स्थानिक अपमान की दृढ़ता में एक महत्वपूर्ण कारक है।[4]

मानवाधिकार और लोकतंत्र

लोकतंत्र के प्रभावी अभ्यास में नागरिकों के अधिकारों की स्वीकृति और उपयोग भी शामिल है। समकालीन दुनिया में अधिकारों की बयानबाजी सर्वव्यापी है। अवधारणा को लगातार कई अलग–अलग संदर्भों में लागू किया जाता हैः मूल भागीदारी स्वतंत्रता की मांग में राजनीतिक अधिकार, निजी जीवन में प्राथमिक स्वायत्तता की रक्षा करने में गोपनीयता और स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत अधिकार, अधिनायकवाद के खिलाफ नागरिक अधिकार, समलैंगिक और समलैंगिक अधिकार अल्पसंख्यक जीवन

शैली का पीछा करने के लिए स्वतंत्रता की रक्षा करना। जबकि इनमें से कई अधिकारों को कानूनी मान्यता प्राप्त है, दूसरों को यहां तक कि कुछ बेहद महत्वपूर्ण भी हैं, कानूनी अधिकारों के मामले बिल्कुल भी नहीं हैं। यदि किसी सरकार पर कुछ "मानव अधिकार" जैसे कि मुक्त भाषण के अधिकार का उल्लंघन करने का आरोप लगाया गया है, तो उस आरोप का वास्तव में केवल यह इंगित करके जवाब नहीं दिया जा सकता है कि उस देश में मुक्त भाषण का कोई कानूनी अधिकार नहीं है। ऐसे मामलों में क्या हो सकता है कि क्या स्थापित कानूनी अधिकारों का उल्लंघन नहीं हुआ है, लेकिन (1) क्या इन स्थापित कानूनी अधिकारों का दायरा विचाराधीन मांगों को बढ़ाने के लिए बढ़ाया जाना चाहिए, और (2) क्या लोगों का दावा उन लोगों की स्वतंत्रता के लिए (जैसे मुक्त भाषण) को कानूनी अधिकारों के अभाव में भी स्वीकार किया जाना चाहिए।

मानवाधिकार ऐसे अधिकार हैं जो नागरिकता से संबंधित नहीं हैं, लेकिन किसी भी इंसान के हक के लिए क्या लिया जाता है, कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह किस देश का नागरिक है और कोई फर्क नहीं पड़ता कि उस देश की कानूनी प्रणाली क्या करती है या गारंटी नहीं देती है । वास्तव में, मानव अधिकारों को केवल उन अधिकारों के रूप में परिभाषित करना भी उचित नहीं हो सकता है जिन्हें आदर्श रूप से कानूनी रूप से मान्यता दी जानी चाहिए। एक मानव अधिकार को कई संदर्भों में भी आमंत्रित किया जा सकता है, जब इसके कानूनी प्रवर्तन हपअपदह के रूप में इसे सामान्य समर्थन देने के विपरीत अनुचित और अयोग्य होगा। उदाहरण के लिए, गंभीर पारिवारिक फैसलों में पूरी तरह से एक पत्नी के मानवाधिकारों को एक समान, एक व्यक्ति के रूप में भाग लेने का अधिकार दिया जा सकता है। पुलिस द्वारा वैधानिक और लागू किया जाए। इसी तरह, "सम्मान का अधिकार" एक और उदाहरण है जहां वैधीकरण और प्रयास प्रवर्तन समस्याग्रस्त होगा। मानवाधिकारों का अपना डोमेन होता है, और जबकि उनके कानूनी घटकों का उपयोग समझदारी से नए कानून (या न्यायिक पुनर्व्याख्या) के लिए किया जा सकता है, इन अधिकारों को अन्य मामलों में, व्यक्तियों और संस्थानों पर सामान्य मांगों के रूप में भी देखा जा सकता है।[5]

लोकतंत्र और भागीदारी

भारत ने 1950 में लोकतांत्रिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए एक क्रांतिकारी कदम उठाया, जब संविधान लागू हुआ। भारत के लोकतांत्रिक संस्थानों की नींव रखने के अलावा, संविधान ने सामाजिक अवसरों की एक विस्तृत श्रृंखला को बढ़ावा देने की आवश्यकता पर ध्यान दिया। विशेष रूप से, इसने सभी नागरिकों के "मौलिक अधिकारों" को परिभाषित किया, जिसमें कानून के समक्ष समानता, भाषण और संघ की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार और शोषण से सुरक्षा शामिल है। वास्तव में, "राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत," जो सख्त कानून के पूरक हैं, सख्त कानूनी प्रावधानों की तुलना में बहुत अधिक हैं। उदाहरण के लिए, वे "लोगों के कल्याण के संवर्धन के लिए एक सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित करने के लिए" राज्य के साथ–साथ "आजीविका के पर्याप्त साधन के अधिकार" और "मुफ्त कानूनी सहायता" से अधिक विशिष्ट अधिकारों की सीमा को बनाए रखने का आग्रह करते हैं, "सभी बच्चों के लिए" मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा "और" काम करने का अधिकार।[6]

डॉ. अंबेडकर ने इसके विपरीत दो संभावित परिणामों में से एक होने की उम्मीद की थी। पहली संभावना यह थी कि सामाजिक और आर्थिक अवसरों की असमानताएँ लोकतंत्र को पूरी तरह से कमजोर कर सकती हैं, और इस प्रकार भारत को किसी भी राजनीतिक समानता के साथ नहीं छोड़ सकता है। दूसरी संभावना थी, लोकतंत्र के अस्तित्व के साथ, लेकिन साथ ही एक असहज संतुलन में प्रकट आर्थिक और सामाजिक असमानताओं के साथ, तीव्र द्वंद्ववाद की निरंतरता। डॉ. अंबेडकर की तत्काल आशंका पहली संभावना के साथ थी, और उन्हें डर था कि "विरोधाभास" जिसे उन्होंने पहचान लिया था, वह स्वयं लोकतंत्र को कमजोर कर देगाः "हमें इस विरोधाभास को जल्द से जल्द संभव समय पर हटा देना चाहिए अन्यथा असमानता से पीड़ित लोगों को समाप्त कर देगा" राजनीतिक लोकतंत्र की संरचना जो इस विधानसभा ने इतनी मज़बूती से बनाई है। डॉ. अंबेडकर की चेतावनी के पचास साल बाद, भारतीय लोकतंत्र जीवित है। यह दूसरा परिदृश्य है जो आज हम भारत में देखते हैं, एक जीवित लोकतंत्र के साथ जो डॉ. अंबेडकर द्वारा उजागर तनाव से गहराई से समझौता करता है।[7]

निष्कर्ष

हमने भारतीय लोकतंत्र की भागीदारी में कुछ सफलताओं के साथ–साथ कुछ असफलताओं की भी पहचान की है। बहुत कुछ भारत में व्यापक रूप से सार्वजनिक भागीदारी बढ़ाने की संभावना पर निर्भर करेगा। विकास की प्रक्रिया के बहु–संस्थागत प्रारूप में (बाजारों के साथ–साथ सरकार, मीडिया, लोकप्रिय संगठन और अन्य सक्षम संस्थान शामिल हैं), प्रत्येक की पहुंच और प्रभावशीलता के विस्तार में सार्वजनिक भागीदारी की महत्वपूर्ण भूमिका है इन संस्थानों के साथ–साथ उनके संयुक्त कार्यों के एकीकरण में भी है। इस सब में भारत का रिकॉर्ड सीमित सफलता में से एक है, लेकिन इस रिकॉर्ड की एक महत्वपूर्ण परीक्षा यह भी बताती है कि सीमाओं को कैसे पार किया जा सकता है और सफलताओं को बढ़ाया और सुरक्षित किया जाता है।

संदर्भ

1. निखिल और अरुणा रॉय, "सूचना का अधिकारः लोगों की भागीदारी और राज्य जवाबदेही की सुविधा।" भारत में राजनीतिक परिवर्तन की दिशा पर एक सम्मेलन में प्रस्तुत कागज, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय 2000
2. फ्रेंकल, एफ., जेड. हसन, और आर. भार्गव, ट्रांसफॉर्मिंग इंडियाः सोशल एंड पॉलिटिकल डायनेमिक्स ऑफ़ डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली 191, 2000
3. हेलर, पैट्रिक, "डिग्री ऑफ़ डेमोक्रेसीः इंडिया से कुछ तुलनात्मक सबक।" वर्ल्ड पॉलिटिक्स 2000;52(4):484–519
4. नंदी, आशिष, "क्यों विकास और समृद्धि गरीबी दूर नहीं करेगी।" ह्यूमन्सस्केप 2000, 13(11)
5. श्रीनिवास, एम. एन., एक क्रांति और अन्य निबंधों में रहने पर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली 1992, 73
6. वार्ष्णेय, आशुतोष, "क्या भारत अधिक लोकतांत्रिक बन रहा है?" जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़ 2000;59(1):3–25
7. यादव, योगेंद्र, "अंडरस्टैंडिंग अदर डेमोक्रेटिक अपसर्ग।" ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया मेंः सोशल एंड पॉलिटिकल डायनामिक्स ऑफ़ डेमोक्रेसी, एफ. फ्रेंकल, जेड. हसन, और आर. भार्गव द्वारा संपादित। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड 2000, 143